

.....○  
**गुलामी की शिक्षा और राष्ट्रवाद**

**यानी**

**आज के रास्ते में चला आता हमारा कल**

□ रविकान्त

ऐसे वक्त में जब अतीत के बारे में हिन्दी और इसकी सहोदर भाषाओं में मोटेतौर पर सिर्फ लफ्फाजियों के बूते काम चलाया जा रहा हो और उसे भावनाओं व मिथकों के सहारे गढ़ा जा रहा हो, तब भले ही पन्द्रह साल देरी से और कई जगहों पर उलझे-पुलझे और बाकी जगहों पर सुलझे हुए अनुवाद के जरिए और कुछ प्रूफ की लापरवाही के साथ हिन्दी में इस किताब का आना, विभिन्न ज्ञानानुशासनों की ऐसी कई किताबों की कड़ी के रूप में एक महत्त्व की घटना है।

इसका महत्त्व इससे भी कुछ बढ़ जाता है कि इन दिनों अतीत को अपनी सुविधानुसार गढ़ने का प्रचलन बढ़ा है। जिसमें कुछ सरलीकृत मान्यताओं के जरिए अतीत की इकहरी तस्वीर बनाने और संगठित प्रचार की मदद से उसे सही साबित करने की कोशिशें भी पुरजोर तरीके से शामिल होती हैं। यह किताब मौखिक संस्कृति वाले समाजों में बार-बार दोहराई गई बातों को आंखें मूंदकर मान लेने के खिलाफ है और पाठक को खासतौर पर शिक्षा के क्षेत्र में पाई जाने वाली सरलीकृत मान्यताओं की बारीकी से छानबीन करने के लिए उद्वेलित करती है।

अपनी बुनावट में किताब पाठक से यह भी कहती लगती है कि अतीत को समझने की कोई बनी-बनाई सीधी-सरल पगडंडी

**गुलामी की शिक्षा  
और  
राष्ट्रवाद**

**कृष्ण कुमार**

पुस्तक : गुलामी की शिक्षा और राष्ट्रवाद  
लेखक : कृष्ण कुमार  
प्रकाशक : ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्रा. लिमिटेड,  
दिल्ली  
मूल्य : 375/-

या कोई राजमार्ग नहीं है कि आप 80-100 कि.मी की रफ्तार से अपनी गाड़ी दौड़ाते चले जाएं। बल्कि अतीत ऐसा बियावान जंगल है जहां कुछ पगडंडियां हैं, कुछ रास्ते हैं तो कई हिस्सों में घना जंगल और कहीं कुछ भी नहीं है। कहीं रेगिस्तान है तो कहीं मीठे-मीठे पानी का सोता। इसकी छानबीन के लिए धैर्य, बारीकी तथा सचेतता की जरूरत है।

यह किताब आज के मकड़जालनुमा हालातों को समझने के लिए अतीत को खंगालती है और अपने पैरों को वर्तमान में मजबूती से टिकाए रहती है। इसे आप एक लंबे सपने की तरह देख सकते हैं। ऐसा सपना जो कई रातों में पूरा होने वाला हो और देखने वाले को हर रात के बाद जागने की आजादी हो। लंबे सपने के बीच जगा-जगा कर आज के हालातों पर निगाह दौड़ाने का इंतजाम भी इस किताब में बखूबी

किया गया है।

इसमें दो मुख्य विचारों की गहराई के साथ छानबीन की गई है जिसमें पहला औपनिवेशक शिक्षा को मैकाले की देन मानने और क्लर्क बनाने वाली पद्धति मानना है तो दूसरा उसी काल में उपजी राष्ट्रवादी सोच को इकहरे ढंग में देखने का है, जिसमें उसके अलग-अलग रंग हमारी निगाह से ओझल रहते हैं।

इन दोनों विचारों की पड़ताल के लिए दो तरीके काम में लिए गए हैं पहले में औपनिवेशिक सरकार के नजरिए से विकसित होते शिक्षायी ढांचे को समझा गया है और उसे “गुलामी का गति विज्ञान” नाम दिया गया है। और दूसरे तरीके में आजादी के लिए लड़ते लोगों व उनके नेताओं, समाजकर्मियों के संघर्ष से बन रही राजनैतिक-सामाजिक प्रक्रियाओं के शिक्षायी प्रभावों को समझने की कोशिश की गई है और उसे “स्वतंत्रता संघर्ष का गति विज्ञान” नाम दिया गया है। और आखिर में इन दोनों की टकराहट से बनने वाले शिक्षायी परिदृश्य के कुछ रेशे आजादी के बाद वाले समय में पहचानने की कोशिश भी की गई है। यद्यपि आजादी के बाद के समय में होने वाली शैक्षिक हलचल एवं बदलाव के गहन अध्ययन का काम आगे के लिए रख छोड़ा है।

गुलामी का गति विज्ञान सुसंगत तरीके से इन सवालियों को खंगालता है कि उस वक्त की सरकार कैसा इंसान (नागरिक) बनाना चाहती थी ? इसके लिए उसने कौनसे ज्ञान, उस ज्ञान को बनाने के कौनसे तरीके को चुनना ठीक समझा और इस काम के लिए शिक्षक कैसा गढ़ा ? अतीत में सरकार इन सवालियों के जवाब कैसे ढूंढती थी, कैसे उन्हें लागू करती थी और लोग कैसे प्रतिकार करते या सरकार का साथ देते थे, इसका विवरण पढ़ते-पढ़ते कई बार अतीत और वर्तमान के बीच की दरारें धुंधला जाती हैं और ऐसा लगने लगता है कि यदि व्यवस्था चलाने वाले ढांचों को नहीं बदला जाए तो राज करने वाले व्यक्तियों या व्यक्ति समूहों के बदल जाने से खास फर्क पड़ता नहीं है। इसलिए उस दौर में भी शिक्षक की जिम्मेदारी बच्चे और उनके अभिभावकों और स्थानीय समुदाय के प्रति न होकर उसे नौकरी व वेतन देने वाली सरकार के प्रति थी और आज भी है। तब भी परीक्षा पास करना और उसी के लिए पढ़ना यानी रटना महत्वपूर्ण था और आज उससे भी शायद ज्यादा ही है और इसलिए स्कूलों से ज्यादा ट्यूशन और कोचिंग संस्थानों की बढ़ चारों ओर नजर आती है।

इसलिए इस बात पर अचरज करना भी ठीक नहीं है कि गुलामी के दौर में शिक्षक का मुख्य काम कक्षा प्रबन्धन था और आज भी है। उस समय शिक्षक की नौकरी में मिलने वाला मामूली वेतन यह सुनिश्चित करता था कि केवल सर्वाधिक जरूरतमंद और उसमें भी सर्वाधिक बेचारे किस्म के लोग ही इस नौकरी में आएंगे। थोड़े जटिल रूप में वह स्थिति आज भी है। क्योंकि अब शिक्षकों के कई वर्ग बन चुके हैं - स्थाई सरकारी शिक्षक, अस्थाई/ठेके पर रखे गए सरकारी शिक्षक, निजी स्कूलों के शिक्षक आदि। और इनमें से कई वर्गों के शिक्षकों की आय आज भी उस जमाने के

संयुक्त प्रान्त के शिक्षक के वेतन की तरह सामान्य श्रमिक की मासिक आय से कम है।

हमारे यहां शिक्षण कार्य अन्य व्यवसायों जैसे डॉक्टर, इंजीनियरिंग आदि की तरह का प्रतिष्ठित व्यवसाय नहीं बन पाया तो इसकी वजहें औपनिवेशिक राज्य द्वारा शिक्षक के लिए तय किए गए मानदण्ड हैं और जो उसके बाद भी बहुत हद तक जारी हैं। बहुत ही मामूली वेतन और शिक्षक प्रशिक्षण की खराब गुणवत्ता के चलते पारंपरिक शिक्षण पद्धतियों आज-भी जारी हैं। और बेहद मामूली वेतन के चलते योग्य व्यक्तियों के इस व्यवसाय से जुड़ पाने की संभावनाएं कम ही होती जा रही हैं।

कोई भी सरकार या राज्य शिक्षा प्रणाली को अपने उद्देश्यों के अनुरूप गढ़ने की कोशिश करती है। अंग्रेजों ने देसी शिक्षा प्रणाली को एक ऐसी शिक्षा प्रणाली में बदलने को अपनी जिम्मेदारी मान कर काम किया जो ब्रिटिश साम्राज्य के उद्देश्यों के साथ-साथ उसकी व्यावहारिक जरूरतों से भी मेल खाती हो। उनका उद्देश्य था देसी व्यक्ति को नागरिक बनाना और व्यावहारिक जरूरत थी अपने काम के लिए मातहत अफसरों और क्लर्कों को तैयार करना।

हमारी शिक्षा का बड़ा हिस्सा आज भी बिना मतलब जाने सिर्फ याद कर लेने और पढ़ लेने तक ही सीमित है। आज कई व्यक्ति और संस्थाएं जब इस बात से जूझते होते हैं कि स्कूल में पढ़ाई जाने वाली बातों का किसी तरह के कोई मतलब से भी कोई रिश्ता बनाया जाना चाहिए तो शायद हममें से अधिकांश यह नहीं जानते कि हम सदियों पुरानी ऐसी परंपरा से टकरा रहे हैं जो मुद्रण की प्रौद्योगिकी के विस्तार से पहले दुनिया के कई समाजों में रही है। आज भी लाखों स्कूलों के शिक्षक बच्चों को शुरूआती वर्षों में वर्णमाला, गिनती व पहाड़े बिना समझे याद करवाने और लिखवाने में प्राणपण से जुटे रहते हैं तो इसकी एक बड़ी वजह हमारी परंपरा में पढ़ाई का मतलब याद करने से लिया जाना है और सीखी गई बात का व्यक्तिगत अर्थ ढूंढने को बेमानी माना जाता है।

औपनिवेशिक शिक्षा नीति और देशज परंपरा की टकराहट का परिणाम लेखक की निगाह में कुछ यूँ निकला, “औपनिवेशिक नीति स्कूली शिक्षक के जीवन का भौतिक आधार बदलने में कामयाब रही लेकिन इसने उसकी आर्थिक एवं सामाजिक हैसियत में कोई बढ़ोत्तरी नहीं की। स्कूली शिक्षण ने अपना पारंपरिक चरित्र खो दिया लेकिन यह आधुनिक अर्थ में व्यवसाय बनने में नाकाम ही रहा। यही वह जगह है जहां हम शिक्षा की पुरानी और नयी प्रणालियों के बीच एक निर्णायक निरंतरता पाते हैं।” (पृ. 219)

पुरानी परंपराएं नई परिस्थितियों में कैसे अपने को ढालती हैं इसका सटीक उदाहरण इस किताब में मिलता है कि, “लिखित शब्द को रट लेना भारत की अधिगम परंपरा का अंग था। पाठ्यपुस्तक केन्द्रित पाठ्यचर्या और परीक्षा की छत्र छाया में इस परंपरा ने नई वैधता और केंद्रीकरण अर्जित कर लिया।” (पृ. 69)

शिक्षा के उद्देश्यों को लेकर औपनिवेशिक नीति और राष्ट्रवादी विचारों में कुछ रोचक समानताएं लेखक इंगित करता है जैसे भारतीय जनता के चरित्र का विकास करना दोनों की निगाह में महत्वपूर्ण था। “अपने परिवेश की जांच-पड़ताल और दैनंदिन समस्याओं के लिए ज्ञान का उपयोग करने जैसे विचार” (पृ. 46) दोनों के लिए अजनबी थे। संभवतः इसीलिए जब राष्ट्रवादी विमर्श परिपक्व हुआ तो उसने भी एक संस्था की भांति नैतिक सुधार का जिम्मा उठा लिया। और भाषा के कंधों पर इसका सारा बोझ आ पड़ा। तभी एनसीईआरटी में पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति के मौजूदा सलाहकार पुरुषोत्तम अग्रवाल को यह कहना पड़ता है कि, “मुझे लगातार लगता रहा है कि हिंदी की कक्षा में घुसते ही हर बच्चा चरित्रहीन हो जाता है क्योंकि पाठ्यपुस्तक की सारी चिंता उसका चरित्र निर्माण करने की है।” (पृ. 12, शिक्षा विमर्श, मार्च-अप्रैल, 06)

यदि आज स्कूल से जुड़ा हुआ ज्ञान बच्चे के रोजमर्रा के यथार्थ और उसके सांस्कृतिक परिवेश से कटा हुआ हमें दिखता है तो यह अनायास या प्रकृति प्रदत्त न होकर लेखक की निगाह में औपनिवेशिक शासन के तहत सूत्रबद्ध की गई कुछ खास रणनीतियों की परिणति है। और इसमें सीखने से जुड़ी देशज मान्यताओं का भी हाथ है। क्योंकि हमारे यहां पर “शास्त्रीय ब्राह्मणीय अधिगम और शिक्षक परंपरा के अनुसार रोजमर्रा के जीवन और अधिगम के बीच दूरी बनाए रखने पर जोर बना रहता था।” (पृ. 167)

लगभग एक साल के सघन और व्यापक विचार विमर्श के साथ बनाई गई राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा: 2005 की एक मुख्य सिफारिश यह कहती है कि स्कूल के ज्ञान को बाहर के ज्ञान से जोड़ा जाए और उसी वक्त में हिन्दी पढ़ी के सबसे बड़ी आबादी वाले राज्य की राजधानी के किसी विकासखण्ड के लगभग 98% से ज्यादा शिक्षकों को यह पता न हो कि राष्ट्रीय पाठ्यचर्या क्या होती है? और 2005 में बनी पाठ्यचर्या की मुख्य सिफारिशें क्या-क्या हैं? और वो हमारे स्कूल पर कैसे असर डालेंगी तो यकीन जानिए कि स्कूल का ज्ञान बाहर के ज्ञान से अगले कई दशकों तक कटा ही रहने वाला है।

देशज शिक्षा प्रणाली की दो विशेषताएं लेखक ने रेखांकित

की हैं जिसे औपनिवेशिक शिक्षा प्रणाली ने व्यवस्थित रूप से खत्म दिया। पहली अध्यापक की स्थानीय समुदाय पर निर्भरता और दूसरी क्या पढ़ाएं और कैसे पढ़ाएं व सीखने की गति पर निर्णय लेने की आजादी। औपनिवेशिक शासन ने शिक्षा प्रणाली को प्रशासनिक वित्तीय एवं अकादमिक तौर पर केन्द्रीयकृत किया और इस व्यवस्था ने अध्यापक को कालान्तर में अध्यापक से सरकारी नौकर बना दिया। जिसे मुश्किल से अपना पेट भरने लायक वेतन कमाने के लिए अपने अधिकारियों को खुश रखना था और उनसे चौकन्ना रहना था, तबादला करवाने या उससे बचने के लिए राजधानियों के चक्कर लगाने थे, सरकारी कामों जैसे जनगणना, चुनाव, चिकित्सा अभियानों, अन्दरूनी कागजी कार्यवाहियों आदि को पहली प्राथमिकता से करना था।

इन दोनों विशेषताओं को बहाल करने या पुनर्जीवित करने की कोई व्यवस्थित कोशिश आजादी के बाद वाले दौर में भी देख पाना कुछ मुश्किल ही है। लिखित रूप में तो ये भले ही मिल जाएं लेकिन जीवित स्कूलों में इन्हें देखना भूसे के ढेर में सुई ढूंढने जैसा श्रमसाध्य काम है। और पढ़े-लिखे व नीति बनाने वाले वर्ग में संभवतः यह विचार करने काबिल भी नहीं रहा कि शिक्षक स्वायत्त और जीविका के लिए स्थानीय समुदाय (यानी जिनके बच्चों को पढ़ाना है) पर निर्भर हो।

आज का शिक्षक अपने इंस्पेक्टरों, निरीक्षकों, शिक्षा अधिकारियों, समन्वयकों, निदेशकों आदि के सामने भीगी बिल्ली और कक्षा के भीतर बच्चों के सामने सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञानी बना नजर आता है। जिसे अपनी अज्ञानता बच्चों के सामने स्वीकारने में खुद की तौहीन नजर आती है और अपने उच्चाधिकारियों के सामने वाजिब सवाल उठाने की हिम्मत खुद में नहीं होती, तो उसकी कुछ जड़ें हमारे नजदीकी अतीत में हैं इसे बड़ी ही खूबसूरती से “दबू तानाशाह” नामक अध्याय में लेखक ने झलकाया है। शीर्षक बहुत साफ ढंग से कहता नजर आता है कि व्यवस्था और परंपरा की जुगलबंदी ने शिक्षक को खंडित व्यक्तित्व का स्वामी बना छोड़ा है।

शिक्षक को आत्मविश्वास विहीन बनाने के लिए उपनिवेश काल के दौरान काम ली गई दो प्रमुख रणनीतियां - कम वेतन और क्या और कैसे पढ़ाया जाए इस पर शिक्षक का कम से कम नियंत्रण, आज भी शिक्षायी तंत्र के बड़े हिस्से में बदस्तूर जारी है। उपनिवेश के दौर में एक शिक्षक कैसे गढ़ा जाता था इसकी झलक निम्न टिप्पणियों में देखी जा सकती है।

“स्कूल शिक्षा की नौकरी में मिलने वाला इतना मामूली वेतन इस बात को सुनिश्चित कर देता था कि सर्वाधिक जरूरतमंद

और उसमें भी सर्वाधिक बेचारे किस्म के लोग ही इस नौकरी में जाएं।” (पृ. 83)

“शिक्षक प्रशिक्षण में प्रवेश के लिए आवश्यक न्यूनतम योग्यता इतनी कम रखी गई थी कि प्रशिक्षण संस्थानों के लिए उच्चतर शैक्षिक संस्थानों की हैसियत और उसके लोकाचार तक पहुंच बना पाना संभव नहीं था।” (पृ. 86)

“प्रशिक्षण पाठ्यचर्या का मुख्य भाग शिक्षण का कौशल उपलब्ध कराना ही था। जिसके केन्द्र में था कक्षा प्रबंधन का काम। (पृ.86)

“औपनिवेशिक व्यवस्था द्वारा लाए गए नौकरशाही में यह बात निहित थी कि पाठ्यचर्या और पाठ्यपुस्तक संबंधी फैसले वरिष्ठ प्रशासकों द्वारा ही लिए जाते थे ..... शिक्षक के नजरिए में पाठ्यपुस्तकें उसी प्राधिकार का एक प्रतीक थीं जिसमें शिक्षकों को नियुक्त करने, उसकी पदोन्नति करने, उन्हें सजा देने और उनका तबादला करने की ताकत मौजूद थी। शिक्षक के लिए इस सत्ता ढांचे से खुद को बचाने का सबसे आसान तरीका यही था कि वह पाठ्यपुस्तकों से चिपका रहे।” (पृ. 91-92)

हम बड़ी आसानी से पहचान सकते हैं कि उपनिवेश काल से आज तक हमारे शिक्षण प्रशिक्षणों, स्कूलों और शिक्षकों में इनमें से क्या-क्या बचा रह गया है ? कौन कौन सी चीजें ऐसी हैं जो और भी बढ़ गई हैं ?

आज राष्ट्रीय स्तर पर स्कूलों से दंड और भय को बाहर निकाल देने की बहसों और कानूनों के बावजूद स्कूलों में दंड और भय बाहर निकलने का नाम नहीं लेता तो इसकी एक बड़ी वजह व्यवस्था द्वारा शिक्षक को दबू तानाशाह के रूप में निर्मित किया जाना है। और एक तानाशाह से प्रेमपूर्ण या दोस्ताना व्यवहार की उम्मीद रखना बेमानी है। कई बार यह तानाशाह और ज्यादा क्रूर तब हो जाता है जब वह खुद किसी उच्च जाति में पैदा हुआ हो और उसके पास पढ़ने वाले बच्चों में दलितों के बच्चे आते हों। कई दलित लेखकों के जीवनानुभव अपने सामाजिक जीवन के साथ-साथ स्कूली जीवन के नर्क का विस्तार से वर्णन करते हैं।

किताब का दूसरा हिस्सा स्वतंत्रता संघर्ष का गतिविज्ञान न्याय, अस्मिता और प्रगति की अवधारणाओं के इर्दगिर्द आजादी के लिए जूझते राजनेताओं और समाजकर्मियों के विचारों और उनके कार्यक्रमों के विश्लेषण के जरिए समझने की कोशिश करता है।

समानता या न्याय के लिए किए जाने वाले संघर्ष के संदर्भ

में “स्वतंत्रता संघर्ष को एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया के रूप में देखना जिसमें कई भिन्न-भिन्न आदर्शों अथवा मूल्यों को आधार बनाकर किए जाने वाले प्रयास शामिल थे (पृ. 107)”, उस दौर के प्रति हमारी दृष्टि को इकहरा होने से बचाता है।”

समानता का मुद्दा हमारे यहां दो संदर्भों में बेहद महत्वपूर्ण जगह रखता है। पहला जाति के मामले में और दूसरा लिंग भेद के मामले में। इन दोनों ही संदर्भों में फुले, अंबेडकर, गांधी और गोखले के कामों का ऐतिहासिक महत्व है।

समानता की विवेचना करते समय उसे दो महत्वपूर्ण संदर्भों में उठाया गया है। पहला जाति है तो दूसरा लिंग भेद। इन दोनों ही संदर्भों में फुले, अंबेडकर, गांधी और गोखले के कामों की विवेचना की गई है।

समानता के मुद्दे पर अपने-अपने तरीके से लगातार जूझने में इन तीनों का योगदान अप्रतिम लगता है। जितने विस्तार से फुले कक्षाई जीवन के विस्तार में जाकर हंटर आयोग को दिए गए प्रतिवेदन में वित्तीय प्रावधानों और पाठ्यक्रम के पर्यवेक्षण से लेकर पाठ्यपुस्तक और शिक्षण प्रशिक्षण तक को छूते हैं, यह सब लेखक को रहस्यमयी जागरूकता लगता है। क्योंकि उन्हें उस दौर में कोई भारतीय आलोचक या ब्रिटिश अधिकारी ऐसा करता नजर नहीं आता।

रोचक यह जानना भी है कि फुले शिक्षक के कम वेतनमान के साथ-साथ लगभग सभी ब्राह्मण शिक्षकों के आलस्य और पूर्वाग्रहों की भी आलोचना करते हैं। खासतौर से जब वे कहते हैं कि -

“इस समय प्राथमिक विद्यालयों में जो शिक्षक नियुक्त हैं के सब के सब लगभग ब्राह्मण हैं।... लेकिन बतौर एक नियम के वे सब एक अव्यवहारिक आदमी हैं और जो लड़के उनसे सीखते हैं वे सामान्यतः उनकी निष्क्रिय आदतों को भी आत्मसात कर लेते हैं। और नौकरी पाने की कोशिश करते हैं ताकि वे वंशानुगत या मेहनत वाला या फिर किसी अन्य स्वतंत्र पेशे से छुटकारा पा सकें।”

विषमताओं से भरे हमारे समाज में और खासतौर से ऐसी विषमता, जिसका निर्धारण जन्म से होता है और समापन मृत्यु से, के विरुद्ध अथक संघर्षरत अंबेडकर के लिए यह कहना बिल्कुल सटीक लगता है कि-

“आज भी उनका नाम बिजली का ऐसा नंगा तार बना हुआ है, जो समानता और उससे संबद्ध मूल्यों के लिए राजनैतिक कार्यवाही का माहौल बना सकता है।”

लेखक फुले-अंबेडकर परंपरा से निकली सकारात्मक पक्षपात की नीति के विशिष्ट शैक्षिक पहलुओं की ओर भी ध्यान खींचते हैं जो कि आमतौर पर अछूते रहते हैं जैसे वास्तविक स्कूलों के शिक्षकों द्वारा दलितों के साथ किया जाने वाला बर्ताव, पाठ्यपुस्तकों व पाठ्यचर्या में रचित समाजों के प्रतीकों की साझेदारी आदि।

गोखले द्वारा रखे गए शिक्षा विधेयक का हथ्र साफतौर पर यह दिखाता है कि सभी के लिए शिक्षा और उसके लिए बाल मजदूरी पर प्रतिबंध उस वक्त के नेतृत्व के लिए उपेक्षणीय मुद्दा था।

लेखक ने उसी दौर में शिक्षा में नए प्रयोगों की कोशिश में लगे रवीन्द्र, गिजुभाई और गांधी की शैक्षिक योजनाओं की समतावादी धार को रेखांकित करने की कोशिश की है।

समानता की पूरी विवेचना को पढ़ते हुए यह सवाल सहज ही उठता है कि अगर गुलामी के दौर में आर्थिक असमानता एक महत्वपूर्ण मुद्दा नहीं बन पाई तो उसकी क्या वजहें रही होंगी। अंग्रेज तो मूलतः व्यापार करने भारत आए थे और अपने व्यापार की बेहतरी के लिए ही उन्होंने राजनैतिक सत्ता पर भी कब्जा किया और आर्थिक शोषण का दुश्चक्र चलाया। जिसकी वजह से हमारे यहां के उद्योग धन्धे नष्ट भी हुए और कुछ भयंकर अकाल भी पड़े।

गुलामी के दौर ने लोगों को सामूहिक अस्मिता की तलाश की तरफ प्रवृत्त किया। लेखक की निगाह में आजादी के आंदोलन के दौरान हमारी अस्मिता निर्माण का काम मुख्यतः दो क्षेत्रों में चला - धर्म और भाषा। अस्मिता निर्माण की प्रक्रिया बहुत साफतौर पर यह दिखाती है कि कैसे हिंदी भाषा, हिंदू धार्मिक प्रतीकों, मिथकों, भौगोलिक प्रतीकों आदि का इस्तेमाल करती हुए अपना स्वरूप गढ़ती है और इन सब पर समाज के बौद्धिक रूप से प्रभावशाली वर्ग का जो कि ब्राह्मण था, असर साफ दिखाई देता है। यह भी नजर आता है कि जैसे ही एक भाषा किसी धर्म के इर्दगिर्द सिमटना शुरू करती है तो दूसरी भाषा दूसरे धर्म के आसपास इकट्ठी होने लगती है। और दोनों एक दूसरे को नकारात्मक रूप से प्रभावित करती हैं। इसके साथ ही एक भाषा में दूसरी भाषा के प्रति घृणा/अवमानना का भाव भी इकट्ठा होने लगता है। जो बावजूद मुलाम्मे के जब तब अपनी झलक दिखा देता है। उस दौर के बड़े हिंदी प्रेमी टंडन की संसद में दी गई दलील इस बात का अच्छा उदाहरण है “उनका दावा था कि वे उर्दू और फारसी के प्रेमी थे लेकिन .... फारसी पसंद करना एक बात है और देश में क्या भाषा होनी चाहिए, इससे बिल्कुल अलग बात है। हमारे देश में एक ही कल्चर हो सकती है वह है इंडियन कल्चर - भारतीय संस्कृति”। उस संस्कृति का

आधार है हमारे देश की भाषा और हमारे देश की मिट्टी। (पृ. 168)

इस वक्तव्य में आप एक देश एक भाषा - एक संस्कृति और वह भी उच्च जातीय भूस्वामी वर्ग के प्रभुत्व की गूंज बहुत साफ सुन सकते हैं। यह देश की सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, भाषायी विविधता को स्वीकार करने के बजाए उसे समरूप बनाने की ओर बढ़ाने की घोषणा भी है। लेखक की निगाह में हिंदी आंदोलन के इतिहास का एक महत्वपूर्ण निहितार्थ यह है कि औपनिवेशिक शासन के तहत शिक्षा को एक पंथ निरपेक्षकारी प्रभाव के रूप में लेने के पारंपरिक नजरिए पर सवाल खड़े किए जाने चाहिए।” (पृ. 169)

ब्रिटिश नीति का दावा भले ही पंथनिरपेक्ष शिक्षा का था लेकिन अंग्रेजी भाषा के साहित्यिक पाठों को ईसाई नैतिकता की शिक्षा देने के ख्याल से ही चुना जाता था। इसी का अनुसरण करते हुए “हिन्दी का स्कूली साहित्य ऐसा ‘पंथनिरपेक्ष’ औजार बन गया जिसका इस्तेमाल इस समुदाय की धार्मिक और सांस्कृतिक चेतना को गहरा करने और राज्य समर्थित शिक्षा के तामझाम के तहत इसे प्रचारित करने में किया जाता था। (पृ. 169) यानी अस्मिता की राजनीति ने पुनरुत्थानवाद को औजार के रूप में इस्तेमाल किया। और शिक्षा की पुनरुत्थानवाद की भूमिका को मजबूत किया।

शिक्षा को सामाजिक परिवर्तन या रूपान्तरण का औजार मानने की भी एक धारणा रही है। लेकिन हर प्रकार की शिक्षा सामाजिक परिवर्तन या रूपान्तरण का औजार नहीं होती। अन्य औजारों की तरह यह भी इस बात पर निर्भर करती है कि इस पर कब्जा किसका है। और इसकी बनावट कैसी है। हमारे संदर्भों में औपनिवेशिक शासन के दौरान शुरू की गई शिक्षा प्रणाली में “सामाजिक रूपान्तरण का जो सपना था वह व्यक्तियों की ऊर्ध्व गति की संभावनाओं में बदल गया।” (पृ. 224) और यह “हिन्दी इलाके में काफी हद तक खुद को जारी रखने वाली संस्था ही बनी रही, यानी ऊंची जाति के शिक्षित लोगों द्वारा अपने बच्चों को अपनी सांस्कृतिक विरासत और दृष्टियों को सौंपने वाली संस्था” (पृ. 159) ही बनी रही।

अस्मिता की तलाश मुख्यतः हिंदी भाषी क्षेत्रों के संदर्भ में की गई है। भारत की अन्य भाषा-भाषियों के क्षेत्र में अस्मिता की तलाश की खोजबीन इसमें से नदारद है। यहां सवाल यह उठता है कि क्या सभी भाषायी क्षेत्रों में अस्मिता की तलाश की प्रवृत्तियां हिन्दी के क्षेत्र की तरह ही थी या अलग थी। संभवतः इसके जवाब के लिए अन्य भाषाई क्षेत्रों में अस्मिता की तलाश की विवेचना की जरूरत पड़ेगी।

गुलाम समाज में प्रगति का विचार लोगों को लामबन्द करने का एक अच्छा आधार हो सकता है। लेकिन प्रगति के स्वरूप और उसके रास्ते को लेकर किसी भी समाज में एक से ज्यादा विचार होना स्वाभाविक-सी बात है। कई बार दो विचारों का द्वैध बहुत घना हो जाता है। गुलामी के दौर में हर नेता को इस सवाल से जूझना पड़ता था कि हमारा देश गुलाम क्यों हुआ। संभवतः इन सवालों के साथ जूझते व्यक्तियों के वर्गीकरण में अस्पष्टता के चलते लेखक ने कुछ व्यक्तियों के नामों से जैसे गोखले व लाजपतराय, टैगोर, गांधी, अरविंद व विवेकानन्द के काम को पुनरूत्थानवादी विकल्प के रूप में चिन्हित किया है।

लेखक का मानना है कि टैगोर और गांधी को छोड़कर बाकी सभी भारत की प्रगति में अंग्रेजी शिक्षा की भूमिका को लेकर दुविधा में थे। इन दोनों ने ऐसी मूलतः वैकल्पिक शिक्षा पद्धतीय योजनाएं निर्मित कीं जो औपनिवेशिक शिक्षा पद्धति को खारिज करते हुए भी एक उद्योगीकृत होते समाज के साथ संगठ थीं। “टैगोर ने अपने प्रयोग का औचित्य मनुष्य के सार्वभौम मॉडल के रूप में बताया जबकि गांधी ने भारत के लिए व्यावहार्य सामाजिक और आर्थिक गठन के रूप में।” (पृ. 186)

लेकिन आजाद भारत ने इन दोनों विकल्पों को न चुनकर प्रगति को सर्वोच्च मूल्य माना और इसे उद्योगीकरण के जरिए हासिल करने की कोशिश की।

माना यह गया कि प्रगति पंथनिरपेक्षता को बढ़ा कर सांस्कृतिक पुनरूत्थानवाद का मुकाबला कर लेगी। लेकिन ब्रिटिश राज्य की तरह भारतीय राज्य ने भी शिक्षा के भीतर ऐसी कोई संजीदा कोशिश की नहीं। लोकतंत्र, समता, बराबरी, न्याय जैसे मूल्य कभी भी बड़े पैमाने पर न तो शिक्षक प्रशिक्षणों में बहस और कर्म का विषय बने न ही स्कूलों और कक्षाओं में। संभवतः इसी के नतीजे में आजादी के आधी सदी के भीतर ही सांस्कृतिक पुनरूत्थान का राजनैतिक जीवन ही नहीं सामाजिक जीवन भी बड़ी ताकत बन कर उभर आया। यह भी नजर आया कि अधिक औद्योगिकृत समाज प्रबल तरीके से सांस्कृतिक पुनरूत्थान को बढ़ावा दे सकता है। और सांस्कृतिक पुनरूत्थानवाद के मुख्य सवाल अतीत और उसकी काल्पनिक प्रतिष्ठा को जीवित व्यक्तियों और समाजों की कीमत पर स्थापित करने के हैं न कि भविष्य के बराबरी, मुक्त व न्यायपूर्ण समाज बनाने के।

सपनों से जागना कई बार पीड़ादायक होता है क्योंकि हम यथार्थ में ला कर पटक दिए जाते हैं। यथार्थ का सामना करने और उसकी चुनौती को झेलने की सामर्थ्य वाले ऐसे कई लोगों और समुदायों की जरूरत आज कहीं ज्यादा है जो अतीत से सम्मोहित न होकर उसे खुली आंखों से देख समझ कर भविष्य में अपनी निगाह रख अपने यथार्थ को बदलने की कोशिशों में जुट पाएं। ♦

68 ए, पुरुषार्थ नगर बी, जगतपुरा, जयपुर - 302025

शिक्षक प्रशिक्षण में प्रवेश के लिए आवश्यक न्यूनतम योग्यता इतनी कम रखी गई थी कि प्रशिक्षण संस्थानों के लिए उच्चतर शैक्षिक संस्थानों की हैसियत और उनके लोकाचार तक पहुंच बना पाना संभव नहीं था। यहा हम यह तर्क नहीं दे रहे हैं कि कॉलेज शिक्षा किन्हीं बौद्धिक अभियानों में जुटी पड़ी थी। तथ्य यह है कि भारतीय कॉलेजों में जो सर्वश्रेष्ठ थे, उनमें भी शिक्षण पाठ्य पुस्तकों से ही बंधा हुआ था और अगर इक्का-दुक्का छात्र किसी किस्म की बौद्धिक खोजबीन के लिए प्रेरित होते भी थे तो परीक्षाओं का आतंक इसके लिए नहीं के बराबर गुंजाइश छोड़ता था। लेकिन शिक्षक प्रशिक्षण संस्थान को किसी किस्म की अभिरुचि का दिखावा तक नहीं कर सकते थे। उनकी प्रशिक्षण पाठ्यचर्या का मुख्य भाग शिक्षण का कौशल उपलब्ध कराना ही था, जिसके केन्द्र में था कक्षा प्रबन्धन का काम। यह कौशल, जिसमें कुछ ऐसी तरकीबें हुआ करती थीं जिनके जरिए छात्रों का ध्यान शिक्षक पर केन्द्रित रखा जा सके, सिखाने में आसान ही था और कोई बौद्धिक प्रयास इसके साथ नहीं जुड़ा रहता था। शिष्य इस कौशल में पारंगत हो चुका है या नहीं, इस बात की परीक्षा भी सुविधाजनक और विश्वसनीय तरीके से ली जा सकती थी। हॉवेल ने इस बात को प्रशिक्षण संस्थानों के लिए इस बात की अनुशांसा करते हुए बड़े अच्छे तरीके से रखा है कि इन संस्थानों को ‘एक विशेष लक्ष्य के अधीन रखा जाना चाहिए और वह है शिक्षकों का प्रशिक्षण, जिनकी उचित कसौटी यह नहीं है कि वे क्या जानते हैं, बल्कि यह है कि पढ़ाने की उनकी क्षमता कैसी है।’

... इसी पुस्तक से